संस्कृत की उपेक्षा अपनी उपेक्षा है!

शंकर शरण*

संस्कृत का अध्ययन हमारे बच्चों, युवाओं के लिए ज़रूरी है या नहीं, इस पर हाल में कई बार विवाद उठता रहा है। किंतु अधिकांशत: वाद-विवाद में सही समझ का अभाव दिखता है। यह लेख उन बिंदुओं पर ध्यान आकृष्ट करता है, जिस पर ध्यान रखना आवश्यक है। संक्षेप में, लेख का निष्कर्ष यह है कि मनुष्य और समाज के संबंध में जानने तथा दार्शनिक विषयों पर विचार-विमर्श करने में आज भी अनेक संस्कृत ग्रंथ उपयोगी हैं। अत: संस्कृत की शिक्षा से वंचित रहकर हम अपनी ही हानि कर रहे हैं। यूरोप में ग्रीक या लैटिन का अध्ययन आज भी व्यर्थ नहीं समझा जाता। कई अर्थों में संस्कृत की मूल्यवत्ता उन से भी अधिक है।

कुछ समय पहले दिल्ली हाईकोर्ट ने पूछा था कि क्या संस्कृत को हटाकर विदेशी भाषाओं को पढ़ाना सोचा जा रहा है? इस का उत्तर कौन दे सकता है! जब भाषा-शिक्षण जैसे बुनियादी प्रश्न पर ज्ञानियों, शिक्षकों के बदले न्यायालय को चिंता करनी पड़े, तब स्पष्ट ही है कि हमारे देश का आम बौद्धिक वर्ग ही कर्महीन है। नहीं तो, अपनी भाषाओं या संस्कृत की उपेक्षा होती ही क्यों? जबकि आज भी सारी दुनिया के विद्वान भारत और संस्कृत को एक-दूसरे से पहचानते हैं।

हमारे देश में कुछ लोग संस्कृत के 'संरक्षण' की बात करते हैं, मानो यह कोई ध्वस्त महल के भग्नावशेष हों! उन्हें मालूम नहीं कि आज भी संस्कृत की महत्ता व उपयोगिता ऐसी मानी जाती है, कि जर्मनी, इज़रायल, रूस और ईरान जैसे देश समझते थे कि अंग्रेज़ों के जाने पर भारत की राजभाषा संस्कृत होगी। वस्तुत: यह होने ही वाला था, किंतु संविधान सभा में इस विषय पर निर्णय होते समय मात्र एक वोट से संस्कृत रह गई! बहुत कम लोग जानते हैं, कि

* *एसोसिएट प्रोफ़ेसर*, (राजनीति शास्त्र), सामाजिक विज्ञान शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली 110016

Chapter 1.indd 5 08-08-2017 09:56:29

स्वतंत्र भारत की राजभाषा के प्रश्न पर अंग्रेज़ी और हिंदी के बीच नहीं, बल्कि संस्कृत और हिंदी के बीच मत विभाजन हुआ था। अतः न केवल संस्कृत आज भी उपयुक्त, संपन्न व जीवंत है, बल्कि भारत के हर कोने में उसका एक ही रूप और सम्मान है। उस में कुछ भी पुराना या बेकार नहीं हुआ है। इस दृष्टि से आज पूरे विश्व में ऐसी कोई भाषा नहीं है!

बेल्जियन विद्वान कोएनराड एल्स्ट का तो यहाँ तक मानना है कि यदि स्वतंत्र भारत की राजभाषा संस्कृत घोषित हुई होती, तो यहाँ भाषा के नाम पर कोई विवाद राजनीति पनप ही नहीं सकी होती। न अंग्रेज़ी का विशेषाधिकार बना होता, न सभी भारतीय भाषाओं की हालत खराब होती। क्योंकि संस्कृत संपूर्ण भारत में सदैव एक जैसी आत्मीय, निकट और आदरणीय मानी जाती है। सीखने, समझने में सरल व सर्वोत्तम वैज्ञानिक भाषा तो वह है ही। साथ ही, भारत के किसी क्षेत्र, समुदाय या वर्ग से उसका अलग से कोई संबंध नहीं है। जो भी है, केवल ज्ञान और विद्वता से। इसीलिए पूरे भारत की एक जैसी समादृत भाषा है।

अतः संस्कृत के राजभाषा होने के परिणाम पर डॉ. एल्स्ट की बात कुछ लोगों को भले अनोखी लगती हो, किंतु उनका तर्क बहुत दमदार है। यह प्रत्यक्ष सत्य है कि संस्कृत न केवल सभी भारतीय भाषाओं का शब्द-स्रोत तथा भाव-स्रोत है, बल्कि भारत की समस्त सांस्कृतिक चेतना की मूल वाहक है। उस विश्व-विख्यात शास्त्रीय मनीषा का ज्ञान भंडार आज भी संस्कृत में ही है, जिससे भारत को प्राचीन काल से ही दुनिया में आदर मिलता रहा।

यूरोप का सबसे पुराना ज्ञान भंडार ग्रीक साहित्य है, जिसमें भारत की मेधा, ज्ञान और रीतियों का स्पष्ट उल्लेख है। स्वयं प्लेटो और अरस्तू ने भारतीय ज्ञान की चर्चा की है। बल्कि ज्ञान, अनुभव की चाह में प्लेटो भारत भी आए थे, ऐसा उनके कुछ जीवनीकार कहते हैं। वैसे भी, प्लेटो के संवादों में अनेकानेक बातें सीधे-सीधे भारतीय दर्शन से प्रत्यक्ष मिलती हैं। कर्म-सिद्धांत, पुनर्जन्म, मनुष्य का स्वभाव, शिक्षा का सिद्धांत, पात्रता संबंधी निर्देश आदि अनेक बिंदु हू-ब-हू हमारे संस्कृत शास्त्रों में दी गई बातों से मिलते हैं। बाद में भी, खुद ईसा मसीह के भारत आकर रहने, सीखने की बातें अनेक यूरोपीय विद्वान कहते हैं। डॉ. अंबेडकर ने तो यहाँ तक कहा है कि मध्ययुगीन चर्च की क्रूरता, जड़ता से मुक्त करके ईसाई सिद्धांतों को अधिक मानवीय, व्यावहारिक और स्वीकार्य बनाने में बुद्ध धर्म की बातों का, यानी भारतीय ज्ञान का ही उपयोग किया गया था। वह मूल ईसाईयत में नहीं थीं। इसकी पुष्टि वाल्तेयर, शॉपेनहावर जैसे महान यूरोपीय चिंतकों की बातों से भी होती है। उन्होंने भी कैथोलिक चर्च के सत्ताधारियों, विद्वानों से वाद-विवाद में यह कहा था, कि जिन मधुर बातों का हवाला वे देते हैं, वह चर्च की नहीं, भारतीय दर्शन से ली गई हैं। इस प्रकार, हाल के यूरोपीय रिफॉर्मेशन, रेनेशां, लोकतंत्र के उदय में भारतीय मनीषा की भी सहायता थी।

इस प्रकार भारत की शाश्वत मनीषा संपूर्ण मानवजाति के लिए प्रेरक और लाभकारी रही है। चाहे वह वेदांत, उपनिषद् का अगाध ज्ञान हो, या पतंजलि का योगसूत्र हो, आयुर्वेद अक्षय उपयोग

भंडार हो, अथवा पाणिनी, कालिदास, वात्स्यायन, जैसे अनगिनत महापंडितों की कालजयी मनीषा। वह सब मूलतः संस्कृत में हैं। ऐसी संस्कृत में, जिसे आज भी पढ़ने-समझने में कठिनाई नहीं होती। महाभारत या भगवद्गीता इसका सहज उदाहरण है। चार सदी पहले के शेक्सपीयर की अंग्रेज़ी को पढ़ने-समझने में आज के अंग्रेज़ी भाषी लोगों को कठिनाई होती है। किंतु चार हज़ार वर्ष पहले की गीता की संस्कृत पढ़ने में आज के किसी भारतीय को कोई कठिनाई नहीं होती। इस का क्या अर्थ है?

उसी संस्कृत मनीषा में आज भी विश्व के अनगिनत अन्वेशी डूब-डूब कर मोती चुनते रहते हैं। हाल में कैलीफ़ोर्निया विश्वविद्यालय के शेल्डन पौलक के ग्रंथ 'द लेंग्वेज ऑफ़ गॉड इन द वर्ल्ड ऑफ़ मैन' ने भाषा-विज्ञानियों में हलचल पैदा कर दी। यह ब्रिटिश-पूर्व भारत में संस्कृत की सामाजिक भूमिका का एक वृहद आकलन है। चाहे इसकी अनेक बातों और व्याख्याओं पर कटु विवाद भी चल रहा है।

पर क्या इस पर भी नहीं सोचना चाहिए कि हमारे देश में संस्कृत की स्थिति का ऐसा समाजशास्त्रीय अध्ययन किसी भारतीय ने नहीं, बल्कि एक अमेरिकी ने किया? अधिक स्वाभाविक होता कि वैसा अध्ययन आज के भारतीय समाजशास्त्री, दर्शनशास्त्री, राजनीति-विज्ञानी करते। यदि ऐसा नहीं हो रहा है, तो मात्र इसलिए कि भारत में संस्कृत की शिक्षा, अध्ययन आदि को उपेक्षित कर दिया गया है।

जब भारतीय कर्णधार, नीति-निर्माता और बुद्धिजीवी ही संस्कृत को अजायबघर की वस्तु मानते हैं। यही मानकर मुख्य शिक्षा-धारा से उसे प्रायः बहिष्कृत कर के रखें, तब यहाँ का कोई समाज-विज्ञानी संस्कृत क्यों पढ़ेगा! इस प्रकार, जो भाषा सहस्त्राब्दियों से इस देश की स्वाभाविक राष्ट्रभाषा रही, जिसे कई विदेशी आज भी राष्ट्रभाषा की सहज अधिकारिणी समझते हैं, उसी को देश के स्वतंत्र होने के बाद सीधे तौर पर उपेक्षित कर दिया गया! हमारे बच्चों, युवाओं का कोई दोष नहीं, यदि वे संस्कृत के नाम पर मुँह बिचकाते या कंधे उचकाते हैं।

ऐसा नहीं कि एल्स्ट या पौलक ने कोई अजूबा बात खोज निकाली है। अभी सौ वर्ष पहले हमारे समकालीन मनीषी स्वामी विवेकानंद, जिनकी विद्वता से पूरी दुनिया चकित हुई थी, उन्होंने ठीक यही बात कही थी। शिक्षा व्यवस्था पर विस्तार से बोलते हुए उन्होंने भारतीय बच्चों, युवाओं को संस्कृत भाषा की अनिवार्य शिक्षा भी देने पर बल दिया था। क्योंकि उन के शब्दों में 'संस्कृत शब्दों की ध्वनि मात्र से हमारी जाति को प्रतिष्ठा, बल और शक्ति प्राप्त होती है।' यह कितनी बड़ी और व्यावहारिक बात है!

जरा स्वयं विचार करके देखिए, कि संस्कृत से किन चीज़ों की प्राप्ति होती है — शक्ति और मान-सम्मान! यानी, ठीक वही चीज़ें जिसके लिए आम मनुष्य लालायित रहता है। भारतीय तो और भी, जो सदियों की पराधीनता में शक्ति, सम्मान की विशेष लालसा रखता है। तब, विवेकानंद की इस सुचिंतित अनुशंसा के बाद भी हमारी शिक्षा में संस्कृत कहाँ है? लगभग कहीं नहीं। तभी तो किसी हाई कोर्ट को प्रश्न पूछना पड़ता है कि वह कहाँ खो गई है!

हालाँकि, प्रश्न देर से पूछा गया है। यह तो चार दशक पहले पूछा जाना चाहिए था, जब जवाहरलाल

नेहरु के नाम पर देश का सबसे संपन्न, प्रभावशाली विश्वविद्यालय राजधानी में बना तो इसके 'भाषा अध्ययन केंद्र' में अंग्रेज़ी के साथ-साथ अरबी, फ़ारसी, रूसी, जर्मन, स्पेनिश, फ्रेंच आदि दर्ज़न भर भाषाएँ पढ़ाने के पूरे विभाग खोले गए, किंतु संस्कृत का कहीं स्थान न था! अभी कुछ वर्ष पहले, वह भी किसी नेता की विशेष पहल से वहाँ संस्कृत विभाग भी खुला। यह प्रसंग स्वतंत्र भारत में शिक्षा के प्रति घोर नासमझी का कितना लज्जाजनक उदाहरण है।

हमारे सर्वोच्च नीति-निर्माताओं, बुद्धिजीवियों को इस का रंच-मात्र बोध नहीं था कि भारत में सबसे महत्वाकांक्षी विश्वविद्यालय के भाषा-अध्ययन केंद्र में संस्कृत को बहिष्कृत करने की दुनिया के लोगों ने सराहना की, या हँसे थे? दुनिया की सबसे गंभीर और विशद ज्ञान संपदा जिस भाषा में है और जिससे भारतीय सभ्यता-संस्कृति की पहचान है — वही भाषा भारतीय युवाओं के लिए बेकार मानी गई! प्रश्न तो तभी उठना चाहिए था, आज से चालीस–पैंतालीस वर्ष पहले, मगर उस पर कहीं कोई आवाज़ नहीं उठी। क्योंकि उस समय के राजनीतिक-बौद्धिक फ़ैशन में संस्कृत की, बल्कि सनातन भारत की ज्ञान-मनीषा से जुड़ी बातों की आम हेठी करना ही बौद्धिकता, आधुनिकता, प्रगति आदि का प्रमाण माना जाता था। आज भी स्थिति बुनियादी रूप से नहीं बदली है।

स्वतंत्र भारत में ऐसी बचकानी, हमारी खंडित मानसिकता से ही आज हमारा सामाजिक ज्ञान (सोशल साइंस) और मानविकी (दर्शन, साहित्य) अध्ययन बड़ी दयनीय अवस्था में है। विदेशी भाषा और विदेशी विचारधाराओं, तरह-तरह के चित्र-विचित्र सिद्धांतों के सम्मोहन ने हमारे शिक्षित वर्ग को नकलची, दुर्बल, आत्महीन बनाकर रख दिया है। संस्कृत ही नहीं, भाषा मात्र के प्रति उन की बचकानी समझ इसका सबसे प्रमाणिक उदाहरण है।

शिक्षा शास्त्र के यूरोपीय सिद्धांत भी सदैव मातृभाषा और अपनी भाषाओं पर अधिकार को प्रथम अनिवार्यता बताते हैं। इस सिद्धांत में वहाँ भी, आज भी, कोई बदलाव नहीं हुआ है। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि पहले अपने परिवेश की भाषा पर पूर्ण अधिकार के बिना किसी को भाषा की ही समझ नहीं हो सकती। किंतु हमारे देश की शिक्षा पद्धति यूरोपियनों का अंधानुकरण करते हुए भी इस बात पर कभी ध्यान नहीं देती। उनकी नासमझी का इससे बड़ा प्रमाण और क्या होगा कि किसी भारतीय बच्चे का अपनी मातृभाषा — हिंदी, तमिल, बंगला, आदि में अज्ञान उस की विशेष योग्यता माना जाता है! माता-पिता छिपे गर्व से बोलते हैं कि हमारे बच्चे को बंगला या हिंदी नहीं आती या जैसी-तैसी आती है। इसमें अघोषित, प्रच्छन्न गर्व वाला कथन यह रहता है कि बच्चे की अंग्रेज़ी बहुत अच्छी है!

इस तरह ज्ञान के बदले अज्ञान का गर्व, भारत में वर्तमान शिक्षा चिंतन-तंत्र ने हमारे आम मध्यवर्गीय लोगों को यह मानसिकता दी है। इसी मानसिकता में रचे-पगे प्रभावशाली बुद्धिजीवी वास्तविक ज्ञान-परंपरा से एकदम कोरे होते हुए भी, देश का नीति-निर्देशन करते हैं। मजे की बात कि उनमें से कई लोग स्वामी विवेकानंद की जयकार भी करते हैं, चाहे उनकी सभी शिक्षाओं की खुली अवहेलना

करते हुए। इसी दोहरेपन में जीते हुए कथित उन्नति का अहंकार भी पालते हैं। किन्हीं ठोस मानकों पर देखने की उन्हें फुर्सत भी नहीं कि वास्तव में ऐसी बचकानी समझ और दोहरे आचरण से हमने कुल क्या पाया, क्या खोया?

एक ओर दुनिया के सामने अपनी दुर्बलता छिपाने के लिए हम अपनी महान ज्ञान परंपरा, शास्त्रों और मनीषियों का नाम लेते रहते हैं। दूसरी ओर उनकी मूलभूत शिक्षाओं की नितांत उपेक्षा करते हुए, हर तरह के विदेशी मुहावरों, नारों, वैचारिक फ़ैशनों का अंधानुकरण करते हैं। वह भी केवल शाब्दिक और ऊपरी अनुकरण। क्योंकि जिस स्वाभिमान, अनुशासन, परिश्रम और मौलिकता से पश्चिम के सामान्य विद्वान भी अपना शोध करते हैं, उसका लेशमात्र भी अपनाने में हमारे आम प्रोफ़ेसर उत्सुक नहीं। विशेषकर समाज विज्ञान और मानविकी, साहित्य विषयों वाले लोग।

आखिर भारतीय संस्कृति, इतिहास और समाज के संबंध में पौलक या एल्स्ट जैसा मौलिक, विचारोत्तेजक सामाजिक विश्लेषण विगत चार दशकों में भी किस भारतीय समाज विज्ञानी ने किया है? कोई नाम नहीं मिलता जिसने उस गंभीर वैज्ञानिक विधि या वैसे भी कोई मौलिक सामाजिक-राजनीतिक विश्लेषण किया हो। हमारे अधिकांश समाज-विज्ञानी तो राजनीतिक जुमलेबाज़ी से ग्रस्त रहे हैं। जानी-मानी बातों को नए नाम देना, किसी न किसी मतवाद को बल पहुँचाने में सारे समाज-विज्ञान को झोंक देना आदि राजनीतिक कसरतों में ही उन का जीवन बीतता रहा है। वे इससे इंकार भी नहीं करते। केवल अपने कार्यों, पक्षपातों, दुहरावों को ज़रूरी बताने की कैफ़ियत भर देते हैं, बल्कि इसी को अपनी मुख्य उपलब्धि भी बताते हैं।

इसीलिए स्वतंत्रता के छः–सात दशक बीत जाने पर भी आधुनिक भारतीय बौद्धिकता कह कर कोई चीज़ दुनिया के सामने नहीं आ पाई है। यह नोट करने की बात है। इस की तुलना उद्योग, व्यापार से करके देखें तो बात अधिक स्पष्ट होती है। जहाँ व्यापार, उद्योग, तकनीक में भारतीय उद्यमी दुनिया में एक स्थान बनाने में सफ़ल हुए, वहीं सामाजिक चिंतन, साहित्य और विचार क्षेत्र में हम कहीं नहीं हैं। बल्कि कहें, कि कहीं के नहीं हैं! न तरह-तरह की विदेशी चिंतन प्रणालियाँ, राजनीतिक मतवाद, विचारधाराएँ आदि अपनाकर उसमें कोई योगदान कर दिखा सके, जबकि अपना बहुमूल्य ज्ञान तो हम पहचानते तक नहीं है।

प्रसिद्ध हिंदी लेखक और अच्छे चिंतक, निर्मल वर्मा ने इसी स्थिति पर टिप्पणी की थी कि भारतीय चिंतन परंपरा जितने रत्न, माणिक शायद ही विश्व के किसी अन्य देश के पास हों, 'जिन्हें हमने कंकड़-पत्थर समझकर फेंक दिया है।' वस्तुतः हमारी शिक्षा में संस्कृत भाषा की उपेक्षा उसी का सबसे लाक्षणिक संकेत भर है।

सच यह है कि आज संरक्षण की ज़रूरत संस्कृत को नहीं, हमारी बुद्धि को है! यदि हमारी सोच-समझ को बचना, बढ़ना, विकसित होना है, तो संस्कृत व भारतीय भाषाओं से ही उसे कोई सहारा मिलेगा। विदेशी ज्ञान-विज्ञान का सही मूल्यांकन और अपने हित में उपयोग करने योग्य भी हम तभी बनेंगे जब

पहले अपने पैरों, और अपनी बुद्धि, पर खड़े होंगे। वह अपने ज्ञान से ही हो सकता है। अपने समाज, अपने दर्शन, अपनी मनीषा के ज्ञान से ही उसकी ज़मीन बनती है, जिस पर टिक कर किसी नैसर्गिक प्रतिभा की खुली उड़ान संभव होती है। उधार के सिद्धांत किसी के चिंतन को ज़्यादा दूर तक नहीं ले जाते।

इसीलिए भारत में अभी जो हो रहा है, वह वरिष्ठ फ़्रांसीसी पत्रकार फ़्रांस्वा गोतिए के शब्दों में, ''भारतीय शिक्षा प्रणाली अपनी प्राचीन संस्कृति की महानता से परिचित नागरिकों के बजाए ऐसे युवाओं का क्लोन तैयार कर रही है जो पश्चिमी देशों में निर्यात के लिए अधिक उपयुक्त हैं।'' इस बात की सच्चाई से शायद ही कोई इंकार करेगा। लेकिन हैरत की बात यह है कि इस के बाद भी इस का उपाय करने में किसी की रुचि दिखाई नहीं देती। क्या हमारी सामाजिक प्रतिभा मर गई है?